संपादकीय

पर्व-त्योहार और नाटक

कुछ समय पूर्व तक गाँवों, शहरों-महानगरों में दशहरे व दिवाली-छठ के अलावे नाटकों व रामलीलाओं का विशेष-विशेष अवसरों पर आयोजन होता था। नाटक बहुत ज्यादा नहीं, पर दो-चार बार, दो-चार साल देखा, खेला और खेलाया है। उस समय जैसे नाटक खेला-खेलाया जाता था, उसे भले ही कई लोगों द्वारा 'डोमकच' कहकर नवाजा जाता हो, पर इससे न तो नाटक खेलने वालों का उत्साह फीका पड़ता था और न ही देखने वालों का। वह भी तब, जब नाटक को पाँचवें वेद के तौर पर मानने का भान भी कहाँ था। इसके साहित्यिक महत्व की जानकारी भी सुलभ नहीं थी। संचार-जनसंचार के आधुनिक उपकरण जैसे मोबाइल-दूरदर्शन, लैपटॉप-कंप्यूटर भी नहीं थे; गाँव-देहात में तो एकदम नहीं। प्रत्यक्ष नाटक तथा रामलीला-रासलीला और नाच-नौटंकी मनोरंजन के मुख्य माध्यम थे। ऐतिहासिक घटनाओं, पौराणिक कथाओं से परिचित कराने के साधन थे। इसी लिए इनमें अभिरुचि और उत्साह का जबर्दस्त उछाह दिखता था। इससे इसकी महत्ता भी स्वयमेव स्थापित हो जाती थी। नाटक को पाँचवाँ वेद कहा गया, क्योंकि इसे अनपढ़ लोग भी जो वेदों को समझना तो दूर, उन्हें पढ़ नहीं सकते थे, वे भी नाटक का अच्छी तरह रसास्वादन कर लेते थे। ज्ञान साहित्य के क्षेत्र में तो नाटक को सबसे पुरानी विषय-विधा माना जाता है। कहते हैं, ब्रह्मा जी के कहने पर भरत मुनि ने देवताओं के मनोरंजन के निमित्त पहले-पहल नाटक का मंचन कराया था। वर्तमान में देश-विदेश के प्रायः विश्वविद्यालयों के स्नातक व स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में नाटक पढ़ाया जाता है; यद्यपि जहाँ-जहाँ पढ़ाया जाता है, वहाँ मंचित करने का अभ्यास नहीं होता, नाटक केंद्रित संस्थानों को छोड़कर। यह हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत, फ्रेंच सहित सभी भाषाओं के साहित्य का अनिवार्य अंग है। एम. फिल. (दर्शन निष्णात) और विद्या वाचस्पति (पीएच. डी.) के अनगिनत रिसर्च-अनुसंधान नाटकों पर होते रहे हैं।

बहरहाल, दशहरा-छठ जैसे पर्व-त्योहारों और नाटकों के बीच का यह अभिन्न संबंध यादों में सिमटता जा रहा है। नाटकों का मंचन विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में लुप्तप्राय है। छिटपुट होते रहे नुक्कड़ नाटकों की बात छोड़ दी जाए, तो आजकल यह किराये वाले महानगरीय हॉल में पेशेवर रूप में कैद होता जा रहा है। गाँवों में पहले तो दशहरा-छठ की तैयारी के साथ-साथ नाटकों के मंचन की तैयारी भी चलती थी। छठ प्रायः नवंबर महीने में होता है और विद्यालयों की वार्षिक परीक्षाएँ भी दिसंबर में ही होती थीं, इसलिए दोनों की पढ़ाई-रटाई और रिहर्सल समांतर रूप से चलता था, क्योंकि किसी में कमतर होना युवा मानस को स्वीकार्य नहीं। जब से नाटकों में अभिनेता सह प्रॉम्प्टर के तौर पर सहभागिता की, तब से गाँव के छठही किनारे शाम को माथे पर दउरा लेकर आना-जाना, रात्रि में नाटक खेलने जाना और खेलकर आना, सुबह ढाई-तीन बजे हाथी-कोशी लेकर आना-जाना और सुबह पुनः अर्घ्य का दउरा लेकर आने-जाने के अलावे मंच बनाने और हटाने के लिए आने-जाने के क्रम में थकान की अनुभूति नहीं, उत्साह का अप्रतिम प्रवाह दिखता था। थकान काफी हद तक अरुचि, नैराश्य, अनुत्साह, विफलता का पर्याय है; रुचि, उत्साह और किशोरवय में थकान कैसी? अस्तु, नाटक देखने से या खेलने से खाली मनोरंजन नहीं होता. बल्कि मानसिक, भाषिक, संभाषणिक, शारीरिक (बॉडी लैंग्वेज) भाषिक क्षमता का विकास भी होता है और सबके सामने बेहिचक बोलने की अदा विकसित होती है। सामूहिकता-सामाजिकता का भावबोध उत्पन्न होता है। चाहे सैकड़ों के सामने सम्भाषण करना हो या सीधे उच्चतर स्तर में व्याख्यान देने का मौका हो, नाटक के मंच पर बोलने के पूर्व अनुभव के कारण कभी सकपकाहट नहीं हो सकती। स्वयं पहले-पहल जब नाटक के पहले दृश्य में अभिनय किया, तो संकोची स्वभाव के कारण आँखें कुछ नीचे थीं, दृश्य ख़त्म होने के तुरंत बाद एक मेधावी महानुभाव ने आँखें सीधे, सामने, दर्शकों की ओर रखने के लिए कहा, जिसे हमने अगले दृश्य में फलितार्थ कर दिखाया। 27 नवंबर, 2019 को लंबे अरसे बाद उनसे फरीदाबाद के पार्क प्लाजा होटल में मुलाकात हुई और लगभग पैंतीस वर्ष बाद उनसे ठीक से बातचीत भी हुई। लेकिन 2021 के मध्य कोरोना की दूसरी लहर के चरम के समय उनका पुणे में देहावसान हो गया, पर उनका 'आँखें सामने रखकर बोलने के लिए कहना' सदैव प्रासंगिक रहेगा।

नाटकों के प्रति दिनोंदिन रुझान कम होना चिंतनीय है। नाटक लिखने वाले पेशेवर लेखकों, निर्देशन करने वाले निदेशकों, स्वतंत्र रूप से नाटक पढ़ने-पढ़ाने वाले संस्थान और उसके शिक्षक-शिक्षार्थियों के अलावे पेशेवर अभिनेताओं को छोड़ दिया जाए, तो सामान्य जनता के बीच नाटकों प्रति आकर्षण नहीं दिखता, क्योंकि नाटक, नौटंकी जब होंगे ही नहीं तो उनसे प्रियता कैसे स्थापित होगी। हालाँकि बड़े शहरों के हॉल में कभी-कहीं प्रदर्शन के साथ दूरदर्शन पर इनका प्रसारण जरूर होता है, जिन्हें देखने वाले देखते भी हैं। आधुनिक चलचित्र व धारावाहिक की बुनियाद नाटक के सिद्धांत व व्यवहार पर ही टिकी है। इनके दर्शक भी असंख्य हैं। लेकिन रंगमंच पर अभिनेता द्वारा जैसा सीधा-प्रत्यक्ष मंचन व संवाद होता है, उसमें - और जनसंचार माध्यमों द्वारा जो प्रदर्शित होता है, उसमें - संप्रेषणीयता का बहुत अंतर हो जाता है। वर्तमान में मूल्यांकन का आधार व्यावसायिक, पेशेवर दृष्टिकोण से बनता है और इसलिए रोजगार-व्यवसाय के निकष पर नाटक कम, तो इसके उन्नत रूप - चलचित्र, धारावाहिक अधिक लोकप्रिय हो रहे हैं। फिर भी नाटकों की परंपरा को जीवित रखने और सतत समुन्नत करने की उपयोगिता से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता।